साहित्य में सामाजिक यथार्थ का निरूपण

संजीव कुमार भारद्वाज*

साहित्य में यथार्थ का निरूपण अन्य सामाजिक विज्ञानों अथवा मानविकी विषयों से इस मायने में अलग होता है कि यह निरूपण मात्र सूचनाधर्मी नहीं होता, बल्कि आस्वाद की प्रक्रिया में यह व्यक्ति के रूपांतरण का माध्यम बनता है। यही रूपांतरण सामाजिक परिवर्तनों में सहायक होता है। साहित्य में सामाजिक यथार्थ के इस निरूपण के दो प्रमुख आयाम हैं— एक, रचनाकार विषय-वस्तु के रूप में किस सामाजिक यथार्थ का चयन कर रहा है, दूसरे, इस सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति वह किस प्रकार कर रहा है। प्रस्तुत आलेख में साहित्य की प्रकृति, इसकी अपने समाज से अंत:क्रिया तथा साहित्य शिक्षण के संदर्भ में कतिपय महत्वपूर्ण बिंदुओं पर विचार किया गया है।

साहित्य का शिक्षण अन्य समाजशास्त्रीय अथवा मानविकी विषयों के शिक्षण की तरह नहीं किया जा सकता क्योंकि साहित्य एवं कला की प्रकृति अपने आप में बेहद विशिष्ट है। यद्यपि साहित्य की गणना अकसर समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र के साथ समाजशास्त्रीय अनुशासनों के अंतर्गत होती है। सतही दृष्टि से देखें तो अन्य अनुशासनों की तरह साहित्य में भी अध्ययन विश्लेषण का मुख्य विषय मनुष्य ही है, मनुष्य और उसका समाज। पर एक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि अन्य समाजशास्त्रीय अनुशासनों में मनुष्य मात्र एक 'ऑब्जेक्ट' है, वहीं साहित्य में मनुष्य मात्र एक 'ऑब्जेक्ट' नहीं है, जिसे हम बाहर से देख-परख लें। साहित्य में इस मनुष्य व उसके समाज से हमारा तादात्म्य स्थापित हो जाता है, क्योंकि साहित्य में इस 'मनुष्य' और उसके 'समाज' के रूप में हम स्वयं हैं, एक 'सब्जेक्ट' जो साहित्य की नज़र से स्वयं को अनेक छवियों, समय और मनोवृत्तियों में देखता है। किसी भी साहित्यिक कृति की रचना प्रक्रिया में उसके सामाजिक यथार्थ का निरूपण होता है,

**शोध छात्र*, केंद्रीय शिक्षा संस्थान, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 110007

पर यह निरूपण रचनाकार की कल्पनाशीलता तथा रचनात्मक दृष्टि के द्वारा एक तरह से साहित्यिक-सामाजिक यथार्थ के रूप में होता है। प्रस्तुत लेख में साहित्य अध्ययन-अध्यापन के संदर्भ में निम्नलिखित बिंदुओं का विवेचन किया गया है—

- साहित्य में समाज — साहित्य की अंतर्वस्तु के रूप में सामाजिक यथार्थ का निरूपण।
- समाज में साहित्य — साहित्य की सामाजिक उपादेयता।
- साहित्य की प्रकृति के संदर्भ में साहित्य शिक्षण।

साहित्य में समाज — साहित्य की सामाजिक भूमि

किसी भी साहित्य की अंतर्वस्तु का निर्धारण वस्तुत: वहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ ही करती हैं। समाज की उपस्थिति या सामाजिक यथार्थ का निरूपण वह मुख्य अवयव है जो किसी साहित्य को पठनीय तथा प्रासंगिक बनाता है। फ्रांस की क्रांतिकारी लेखिका मादाम-द-स्ताल (1800 ई.) ने अपनी पुस्तक *सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार* में दिखाया कि साहित्य पर सामाजिक संस्थाओं का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज की साहित्य में गहन उपस्थिति के कारण लुई द बोनाल जैसे विचारक साहित्य को अपने समाज का दर्पण मानने के पक्षधर हैं। यद्यपि दर्पण-बिंब वाला यह दृष्टिकोण साहित्य को मात्र एक दस्तावेज़ के रूप में देखता-समझता है, इससे साहित्य को सूचनाओं के संग्रह के रूप में इस्तेमाल करने का खतरा पैदा होता है (जैन, 1986)[1]। साहित्य सामाजिक सूचनाओं का संग्रह मात्र तो नहीं है, एक कलात्मक रचना के रूप में साहित्य केवल वर्णन या वस्तुगत चित्रण-विश्लेषण से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन की गहराई में प्रवेश करता है।

यद्यपि साहित्य रचनाकार की अनुभूति की निष्पत्ति होती है। अज्ञेय (1983) मानते हैं कि रचना प्रक्रिया अकसर क्षण में घटित होती है, तथापि यह भी सत्य है कि रचना में रचनाकार की अनुभूति के साथ-साथ उसके विचारों की भी अपरिहार्य उपस्थिति होती है। यह विचार रचनाकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रश्नों से उद्‌भूत होते हैं। इस तरह रचना की विषय-वस्तु का निर्धारण रचनाकार की निजता एवं उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ दोनों ही करती हैं।

रचनाकार की रचनात्मकता

रचनाकार समाज से यथार्थ का चयन करता है, पर यह रचनाकार की चेतना, उसकी आकांक्षा, रचनात्मकता ही है, जो सामाजिक यथार्थ की ऐसी संवेदनशील अभिव्यक्ति करती है कि वह साहित्य पढ़ने वाले को बहुत गहरे स्तर तक प्रभावित कर देती है। बचपन में कोई कहानी पढ़ी, मान लीजिए प्रेमचंद की 'ईदगाह', इसमें हामिद के उन शब्दों की संवेदना "तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं, इसलिए मैंने इसे ले लिया..."[2], यह संवेदना, यह भाव आज भी दिलो-दिमाग में कहीं जीवित है, बल्कि संस्कार के स्तर पर भी मौजूद है। इसलिए आज भी कोई ऐसी समान स्थिति बनने पर भीतर से यह पंक्ति सुनाई देती है। अत: साहित्य इस अर्थ में समाजशास्त्र जैसे

विषयों से अलग है, विशिष्ट है कि इसमें सामाजिक यथार्थ मात्र सूचनाधर्मी नहीं होता बल्कि रचनाकार की रचनाधर्मिता से साहित्यिक-सामाजिक यथार्थ के रूप में निरूपित होता है।

महाप्राण निराला ने आँखों देखी एक घटना को कविता का रूप दे दिया। इलाहाबाद में मार्ग पर पत्थर तोड़ती स्त्री को देखकर कविता लिखी — 'तोड़ती पत्थर'। इसी कविता की आरंभिक पंक्तियाँ हैं —

वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर
वह तोड़ती पत्थर
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी स्वीकार,
श्याम तन, भर बंध यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार
सामने तरू मालिका अट्टालिका, प्राकार।[3]

एक सामान्य घटना जब किसी रचना में रूपांतरित होती है तो उसका प्रभाव सामान्य नहीं रह जाता। निराला की यह रचनात्मक अभिव्यक्ति एक जीवंत सामाजिक विमर्श रचती है। कविता इन शब्दों से बाहर निकलकर वर्ग-वैषम्य पर विमर्श करने के लिए आमंत्रित करती है। वर्ग विभाजित समाज है— आज का सामाजिक यथार्थ। एक तरफ़ 'तरु मालिका अट्टालिका, प्राकार यानि 'आनंद भवन' है, राष्ट्र के प्रधानमंत्री का आवास और दूसरी तरफ उसके सामने 'वह तोड़ती पत्थर', निराला सामाजिक यथार्थ का चयन ही नहीं करते, बल्कि उसे ऐसी रचनात्मक अभिव्यक्ति भी देते हैं कि वह इस विषमतामूलक समाज को अपनी समूची विसंगतियों के साथ प्रश्नों के घेरे में ले आती है। इस तरह किसी महत्वपूर्ण रचना में यथार्थ का केवल प्रतिबिम्बन ही नहीं होता, उसमें यथार्थ संबंधी चिंतन और यथार्थ की पुनर्रचना भी होती है।

रचनाकार अपनी वैयक्तिक अनुभूति को रचना में बदलता है और इस प्रक्रिया से उचित शब्द, बिंब, प्रतीक तथा अन्य सौंदर्यात्मक तत्वों का समावेश करता है। यह महत्वपूर्ण है कि अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति के उचित ढंग के कारण ही साहित्य की अपील ज़्यादा गहरी हो पाती है— ' ले आएँगे बाज़ार से जाकर दिल-ओ-जां और...।' निर्मल वर्मा ने अपने निबंध साहित्यिक कृति और सत्य की अवधारणा में लिखा — "एक कविता और कहानी हमें जिस सत्य से साक्षात् कराती है, वह स्वयं उसकी भाषा के भीतर संचारित होता है, स्वयं उसके होने, उसके अस्तित्व, उसके स्वरूप में स्पन्दित होता है।"[4] साहित्य में सत्य का वस्तुगत व सूचनात्मक चित्रण नहीं होता जैसा कि अन्य समाजशास्त्रीय अनुशासनों में। साहित्य अकसर अपने शब्दों, शब्दों के बीच खाली विरामों और उनके बीच उत्पन्न हुई लय में अपना सत्य वहन करता है—

एक मधुमक्खी हिलाकर फूल को
बहुत नन्हा फूल
उड़ गई
आज बचपन का
उदास माँ का मुख
याद आता है।[5]

प्रत्येक रचनाकार की अपनी रचनात्मक दृष्टि होती है, रचनाकार की यह जीवन दृष्टि एक तरफ़ उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है और दूसरी तरफ़ उसकी कल्पना, आकांक्षा और रचनात्मकता से। यह स्थिति लगभग हर कला के साथ है, मूर्ति पत्थर में नहीं होती पर मूर्तिकार की सृजनात्मक आँख पत्थर में मूर्ति खोज लेती है, इसी तरह संगीतकार ध्वनियों को ऐसे संगीत में बदल देता है जो मनुष्य को अतीन्द्रिय लोक तक ले जाता है, यही स्थिति चित्रकार और अन्य कला साधकों के साथ है। साहित्य रचना का समूचा व्यवहार एक तरह से कल्पना की क्रियाशीलता का परिणाम है। जीवन जगत के बोध, यथार्थ की चेतना, पात्रों का चयन व उनका चरित्रों में रूपांतरण, भावों तथा विचारों की व्यंजना-पद्धतियों के अन्वेषण और शिल्प की तकनीकों के अविष्कार से लेकर भाषा की विभिन्न भंगिमाओं के निर्माण तक का काम कल्पना की मदद से होता है।

समाज में साहित्य — साहित्य की सामाजिक भूमिका

यद्यपि सामाजिक परिवर्तन तो साहित्यिक परिवर्तनों की पहचान कराते ही हैं, पर साहित्य में भी यह शक्ति होती है कि वह सामाजिक चेतना को प्रेरित और प्रभावित करे। साहित्य की अपील बहुत भीतर तक पहुँचती है, अत: साहित्य एक ओर रसास्वादन का माध्यम बनता है तो दूसरी ओर मनुष्य की अंत:वृत्तियों के परिष्कार का भी। इस तरह साहित्य समाज के यथार्थ का निरूपण ही नहीं करता, वह अपनी सृजनात्मक, कलात्मक चेतना से एक नये मनुष्य व वैकल्पिक लोक व व्यवस्था का निर्माण भी करता है।

साहित्य चूँकि सामाजिक व्यवस्था की विसंगतियों का यथार्थपरक एवं संवेदनशील चित्रण करता है, अत: प्रकारान्तर से यह सोचने को भी विवश करता है कि 'हम क्या हैं' और 'क्या होना चाहते हैं' राजेश जोशी की कविता — 'बच्चे काम पर जा रहे हैं' की कुछ पंक्तियाँ हैं —

'कोहरे से ढकी सड़क पर बच्चे काम पर जा रहे हैं'

सुबह सुबह
बच्चे काम पर जा रहे हैं
हमारे समय की सबसे भयानक पंक्ति है यह
भयानक है इसे विवरण की तरह लिखा जाना
लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह
काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे?[6]

साहित्य प्रश्न उठाता है, समूची व्यवस्था को प्रश्नों के घेरे में ले आता है। 'काम पर क्यों जा रहे हैं बच्चे...' यह जो तथाकथित विकासशील व्यवस्था है, समृद्ध होता भारत, उसे आइना दिखाने वाली काव्य संवेदना है। साहित्य की समाज में उपस्थिति एक तरह से उस समाज को प्रश्नानुकूल बनने के लिए प्रेरित करती है, यह प्रश्नानुकूलता ही किसी समाज को आत्मान्वेषण कर ज़्यादा मानवीय बनने को प्रोत्साहित कर सकती है। इस अर्थ में किसी भी समाज में साहित्य की स्थिति का विवेचन प्रकारान्तर से उस समाज को संवेदनशील तथा मानवीय समाज बने रहने की आकांक्षा का विवेचन-विश्लेषण भी है।

बच्चे की स्लेट पर लिखे हुए कुछ सवाल —
क्या सच में एक दिन स्वच्छ जल रह जाएगा
नारियल में
और खाली बाँस के खोल में साँस की हवा
श्यामपट्ट इतना बड़ा कोरा फैला हुआ, और
जरा सी खड़िया नहीं होगी 'छुट्टी' लिखने के लिए।
क्या सच में एक दिन झींगुरों के
पास ही रह जाएगी पुकार
और चिड़ियों को भी सुबह होने का पता नहीं चलेगा[7]

साहित्य वही निरूपित नहीं करता जो समाज में घट रहा है बल्कि साहित्य की चिंता समाज के भावी स्वरूप से भी जुड़ती है। इसलिए साहित्य की भूमिका अकसर दिग्दर्शक (मात्र उपदेशक नहीं) के रूप में भी सामने आती है, जो किसी भी समाज या मनुष्य को, जो वह होना चाहता है, उसकी ओर ले जाने का प्रयास करता है। अत: लावेन्थल मानते हैं कि कलाकार द्वारा किया गया चित्रण स्वयं सच्चाई से भी ज़्यादा सच होता है।[8] जबकि रिचर्ड होगार्ड[9] के अनुसार महान साहित्य केवल वैयक्तिक दृष्टांतों को ही नहीं देखता बल्कि उसमें सतही ब्यौरों के नीचे, गहरे और अधिक दीर्घकालिक आंदोलनों को देखने की क्षमता होती है। इस अर्थ में कुछ महान रचनाकार क्रांतदृष्टा रचनाकार होते हैं, जो समय के पार देख लेते हैं। ऐसी रचनाएँ कालजयी होती हैं जो अपने देशकाल का अतिक्रमण कर हरेक युग व समाज के लिए प्रासंगिक होती हैं।

साहित्य की सामाजिक उपादेयता का एक अद्‌भुत उदाहरण यह है कि उपनिवेश के दौर में आर्थिक-सामाजिक ढाँचे को, उससे संबद्ध भारतीय समाज की समस्याओं को समझने के लिए इतिहासकारों ने तात्कालिक साहित्य का अध्ययन किया है। मध्ययुगीनता और आधुनिकता की अवधारणा, नारी मुक्ति आंदोलन के समाज पर पड़ने वाले प्रभाव, नवजागरण आदि तमाम ऐसे क्षेत्र थे जिनकी समझ के लिए साहित्य का एक स्रोत के रूप में प्रयोग किया गया। रोमिला थापर ने शंकुतला की कथा पर विचार करते हुए कहा कि कथा में आने वाले परिवर्तन का कारण है समाज में स्त्री की बदलती हुई स्थिति और मूल्यों-मान्यताओं में होने वाला परिवर्तन। इस तरह साहित्य मीमांसा अपने आप में कई स्तरों पर सामाजिक मीमांसा के रूप में सामने आती है।

साहित्य की सामाजिक प्रयोजनीयता एवं समाज पर प्रभाव का एक अच्छा उदाहरण डा. कपिल कुमार की पुस्तक *पीजेंट्रस इन रिवोल्ट* में मिलता है। डा. कपिल कुमार विश्लेषण कर दिखाते हैं कि बाबा रामचंद्र ने किसानों को संगठित करने और आंदोलन को शक्तिशाली बनाने में '*रामचरित मानस*' की पंक्तियों का प्रभावी प्रयोग किया था। प्रतापगढ़ ज़िले के रूर गाँव में किसान सभा की स्थापना की प्रेरणा 'मानस' की यह पंक्तियाँ थीं— 'राज समाज विराजत रूरे।' इसी तरह अंग्रेज़ों और उनके सहयोगी ज़मींदारों की क्रूरता, निर्ममता और धूर्तता को सामने लाने के लिए बाबा रामचंद्र इंद्र के चरित्र की विशेषताओं का वर्णन करने वाली इन पंक्तियों को सुनाते थे —

कपट कुचालि सीवं सुरराजू।
पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक समान पाक रिपु रीती।
छली मलीन कतहुं न प्रतीती

साथ ही वे ज़मींदारों के स्वभाव को जनता के सामने लाने के लिए यह भी कहते थे —

ऊंच निवास नीच करतूती।
देखि न सकहिं पराई विभूति।।

गांधी भी '*रामचरितमानस*' को बहुत महत्त्व देते थे। कुछ लोगों ने उनसे पूछा कि ऐसी कृति की प्रशंसा की क्या वजह है जिसमें विभीषण के विद्रोह, देशद्रोह की तारीफ़ की गयी है। तो गांधी ने विभीषण के चरित्र की राजनीतिक व्याख्या करते हुए कहा कि 'विभीषण का दृष्टांत हमें यह सिखाता है कि अपने देश या शासक के दोषों के प्रति सहानुभूति रखना या उन्हें छिपाना देशभक्ति को लजाना है, इसके विपरीत देश के दोषों का विरोध करना सच्ची देशभक्ति है।' गांधी द्वारा यह देशभक्ति की नयी व्याख्या है जिसे एक महान रचना के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया। साहित्य दरअसल स्पेस देता है मनुष्य को, समाज को, कि वह अपनी आकांक्षा व ईमानदार आवश्यकता के अनुसार साहित्य की नए सामाजिक संदर्भों में व्याख्या कर सके। प्रत्येक साहित्य इस मायने में विशिष्ट है कि इसमें बहु अर्थधर्मिता होती है, जिसकी व्याख्या नित नये संदर्भों में हो सकती है। समाज में साहित्य की जीवंत उपस्थिति तथा समाज को प्रभावित करने की दिशा में थोड़ी और बात करें तो स्वाधीनता आंदोलन के दौर में ही 'रामचरित मानस' के साथ-साथ कतिपय अन्य रचनाएँ भी थीं जिन्होंने भारतीय मानस को गहरे रूप में प्रभावित किया। '*नीलदर्पण*', '*संन्यासीमठ*' एवं '*भारत भारती*' उन रचनाओं में से थीं जिनका सीधा प्रभाव स्वतंत्रता संग्राम पर देखा जा सकता है। '*वंदेमातरम्*' तो उस समय जैसे लोगों का स्वाधीनता का मंत्र ही बन गया था। 'भारत भारती' की लोकप्रियता उस समय '*रामचरितमानस*' से ज़्यादा बताते हैं। यह रचना अधिकांश स्वतंत्रता सेनानियों को लगभग कंठस्थ थी। आलोचकों ने छायावादी कविता को भी स्वाधीनता चेतना से युक्त काव्य माना है। यह काव्य अपने आप में सांस्कृतिक नवजागरण का विमर्श भी रच रहा था, जिससे प्रकारांतर से स्वाधीनता आंदोलन को सांस्कृतिक आत्मविश्वास मिल रहा था — प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव भारत में भर दे...।[10]

इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि साहित्य यदि समाज का उत्पादन है तो समाज को प्रभावित करने वाला एक सशक्त माध्यम भी है। कोई भी सार्थक रचना इतिहास की एक उपज होती है, लेकिन उसका अपना भी एक इतिहास होता है जिसे वह स्वयं बनाती है। साहित्य यदि रचनाकार की चेतना की उपज है तो यह पाठक की चेतना का निर्माण भी करता है। साहित्य वस्तुत: मानवीय अंत:वृत्तियों का परिष्कार करता है, बदलता है व्यक्ति को, अत: प्रकारान्तर से सामाजिक परिवर्तन का वाहक भी बनता है। वैश्विक संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण घटनाओं जैसे फ्रांसीसी क्रांति (1989), रूस की क्रांति (1917) आदि में साहित्य की एक प्रभावकारी भूमिका दिखाई देती है।

साहित्य — शिक्षण संदर्भ में

सृजन-प्रक्रिया चाहे अकेलेपन में होती हो, किंतु उसकी उपज साहित्य और कलाकृति की संपूर्ति हमेशा दूसरे तक पहुँचने, संप्रेषित होने में ही चरितार्थ

होती है। कोई भी रचना चाहे वह 'स्वांत सुखाय' ही लिखी जाए, एक बार कलात्मक रचना के रूप में आ जाने पर रचनाकार की संपत्ति नहीं रहती, अब वह व्यापक पाठक/शिक्षार्थी समुदाय के पास उनके सामाजिक-मनोवैज्ञानिक संदर्भों के अनुसार अपना अर्थसंधन करती है। साहित्य में निहित या अभिव्यक्त संवेदना पाठक को विवश करती है, सोचने के लिए, अंतर्वस्तु में प्रवेश करने के लिए। अंतर्वस्तु में निरूपित मनुष्य व समाज चूँकि एक 'सब्जेक्ट' है, हम स्वयं हैं, विभिन्न छवियों, अर्थों में खुद को देखते हुए, अत: साहित्य संप्रेषण की इस प्रक्रिया में साहित्य की संवेदना के साथ हमारी चेतना का तादात्म्य हो जाता है। अब साहित्य का भाव एक संस्कार है, जो साहित्य की अंतर्वस्तु से बाहर निकलकर एक पाठक के रूप में, हमारी चेतना का अंग बन जाता है, हमारे भावजगत में गहरे पैठ जाता है। इसलिए चाहे वह '*गोदान*' का होरी हो या '*मैला आँचल*' की लक्ष्मी, कालीचरन या बावनदास और चाहे वह '*तोड़ती पत्थर*' की श्रमिक संघर्षाक्रांत स्त्री, साहित्य में इनसे रूबरू होने के बाद इनके प्रति एक ममत्व-सा पैदा हो जाता है, एक रिश्ता-सा बन जाता है। चाहे कुछ न कर सकें पर मन में एक आकांक्षा भी ज़रूर पैदा हो जाती है, इनके लिए कुछ करने की। साहित्य दरअसल इन संस्कारों के माध्यम से ही अपने समाज एवं समय में परिवर्तन करता है।

साहित्य की प्रकृति अपने आप में इतनी विशिष्ट और सृजनात्मक है कि सृजन प्रक्रिया में भले ही यह लेखकीय आग्रहों का वहन करती है, पर सृजन से संप्रेषण के स्तर पर यह पाठक को स्पेस भी देती है, मुक्त करती है। अत: कोई भी सार्थक रचना मनुष्य के अनुभवों को जगह देती हुई उससे ऐसा रागात्मक संबंध बनाती है जो सीधा उसकी अंत:वृत्तियों को अनुप्राणित करता है। साहित्य का संबंध सृजन व आस्वाद दोनों के संदर्भ में, मनुष्य की अंत:वृत्तियों से है, अत: साहित्य पठन-पाठन की प्रक्रिया में बहुत पहले संचित भाव या मूल्य आज भी जीवंत है। यह साहित्य की संवेदनशील एवं सृजनात्मक अभिव्यक्ति का वैशिष्टय है कि बचपन में पढ़ी सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' में बाबा भारती का कथन "इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना... लोगों को यदि इस घटना का पता चला तो वे दीन-दुखियों पर विश्वास नहीं करेंगे..."[11] भाव चेतना का अंग बनकर यदा-कदा आज भी व्यवहार को नियंत्रित कर देता है या कि अर्नेस्ट हैंमिग्वे के '*द ओल्ड मैन एंड द सी*' का बूढ़ा मछुआरा (सैंटियागो) सचमुच जीने की एक जिजीविषा, एक जूझ पैदा कर जाता है।

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर कई ऐसे मुद्दे खोजे जा सकते हैं, जिन पर साहित्य शिक्षण के संदर्भ में विचार किया जा सकता है। जैसे —

- भाषा एवं साहित्य की पाठ्यपुस्तकों की निर्माण की प्रक्रिया में विषय-वस्तु के रूप में हम किस सामाजिक यथार्थ का चयन कर रहें हैं? क्या यह यथार्थ विचारधारात्मक आग्रहों का परिणाम है या यह उस समय तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है? यह देखना भी महत्वपूर्ण होगा कि क्या विषय-वस्तु का

संकलन 'साहित्य' और 'शिक्षार्थी' की प्रकृति को ध्यान में रखकर किया गया है?

- भाषा एवं साहित्य शिक्षण क्या दर्पण बिंब वाले सिद्धांत की तरह सूचनाधर्मी हो रहा है? अर्थात् साहित्य पठन-पाठन की प्रक्रिया में सामाजिक सूचनाएँ एवं उपदेश मात्र निकल कर आ रहे हैं या फिर यह शिक्षार्थियों की कल्पनाशीलता व रचनात्मकता को बढ़ावा दे रहा है?
- हम देख चुके हैं कि रचनाकार सामाजिक मुद्दों को अपनी कल्पनाशीलता तथा रचनात्मकता के द्वारा ऐसे प्रस्तुत करता है, जो पाठक/शिक्षार्थी को संवेदनशील तरीके से इन मुद्दों पर सोचने को विवश कर देता है। साहित्य की प्रकृति बहु-अर्थधर्मी होती है। इसलिए किसी भी रचना की व्याख्या विद्यार्थी अपने-अपने तरीके से कर सकते हैं। इस संदर्भ में यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि क्या साहित्य शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में विद्यार्थियों के पास व्यक्तिनिष्ठ ढंग से सोचने का स्पेस है?
- क्या हम साहित्यिक कृतियों का उपयोग अन्य विषयों के शिक्षण में कर सकते हैं? उदाहरणार्थ मनोविज्ञान में बच्चे की प्रकृति को समझने के लिए क्या 'आपका बंटी' अथवा 'शेखर — एक जीवनी' जैसी कृतियों का सहारा नहीं लिया जा सकता?

टिप्पणी

[1]जैन, निर्मला. *साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन*, से उद्धृत. पृ. 14–15.

[2]प्रेमचंद. *मानसरोवर* में संकलित 'ईदगाह' कहानी से उद्धृत हामिद, एक गरीब परिवार का बच्चा ईद के मेले में जाता है, सभी साथी अपने लिए खिलौने खरीदते हैं, मिठाई खाते हैं पर उसके पास उतने पैसे नहीं हैं, जितने हैं उनसे वह अपनी दादी के लिए एक चिमटा खरीद लेता है।

[3]निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी. *राग विराग* में संकलित. पृ. 118.

[4]वर्मा, निर्मल. *भारत और यूरोप* में संकलित निबंध, पृ. 112.

[5]बहादुर, शमसेर. *प्रतिनिधि कविताएँ*, पृ. 55

[6]एनसीईआरटी की पुस्तक *क्षितिज* भाग-1 में संकलित. पृ. 138,139.

[7]श्रीवास्तव, एकांत. *प्रतिनिधि कविताएँ* में संकलित.

[8]लावेन्थल, एल. *लिटरेचर एण्ड द इमेज ऑफ़ मैन*. पृ. 101.

[9]होगार्ड, आर. '*लिटरेचर एण्ड सोसाइटी*, ए गाइड टू द सोशल साइंसेज' में उद्धृत

[10]निराला, सूर्यकांत त्रिपाठी. *राग विराग* में संकलित 'वर दे वीणा वादिनी वर दे'कविता से उद्धृत, पृ. 74.

[11]सुदर्शन की इस कहानी में *एक डाकू खड़क सिंह*, अपाहिज बनकर धोखे से एक साधु बाबा भारती का घोड़ा छीन लेता है। यद्यपि इस पंक्ति के बाद खड़क सिंह का व्यवहार बदल जाता है।

ग्रंथ सूची

अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्सायन. 1983. *साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया.* वत्सल निधि व्याख्यान. सस्ता साहित्य मंडल, नयी दिल्ली.

ऐलनसविंगवुड. 1971. *द सोशियोलॉजी ऑफ़ लिटरेचर.* मैकगिब्बन एंड की, लंदन.

जैन, निर्मला. 1986. *साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन.* हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.

पटनायक, डी.पी. 1986. *स्टडी ऑफ़ लैंग्वेज, एक रिपोर्ट.* एनसीईआरटी, नयी दिल्ली.

पाण्डेय. मैनेजर. 2005. *आलोचना की सामाजिकता.* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

प्रेमचंद.1936. *साहित्य का उद्देश्य.* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

मदाम-द-स्ताल. 1800. *दल लितरात्यूर (अनुदित — सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार).* मिनार्ड, पेरिस.

लावेन्थल, एल.1957. *लिटरेचर एण्ड द इमेज ऑफ़ मैन.* बीकन प्रेस, बोस्टन.

लुकास, जॉर्ज. 1963. *द मीनिंग ऑफ़ केंटम्पररी रियल्जम.* मर्लिन प्रैस, लंदन.

वर्मा, निर्मल. 1991. *भारत और यूरोप.* भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली.

वेबर, मैक्स. 1971. *द इंटरप्रीटेशन ऑफ़ सोशल रिएलिटी.* नेलसन, यूनाइटेड किंगडम, लंदन.

होगार्ड, आर. 1966. *लिटरेचर एण्ड सोसायटी, ए गाइड टू द सोशल साइंसेज.* एन मैकेंजी द्वारा संपादित. वेडनफील्ड निकोलसन, लंदन.